बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 133

अप्रत्याशित लाभ नहीं

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शायद सरकार को भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) से वैसा वित्तीय समर्थन न मिल पाए जैसी कि उसे अपेक्षा थी। कम से कम केंद्रीय बैंक के आर्थिक पूंजी ढांचे की समीक्षा के लिए गठित विशेषज्ञ समिति के सदस्यों की शुरुआती टिप्पणियों से तो ऐसा ही लग रहा है। बार-बार टलने के बाद आखिरकार समिति की बैठक गत सप्ताह आयोजित हुई। समिति को 8 जनवरी को आयोजित पहली बैठक के 90 दिन के भीतर आरबीआई को रिपोर्ट प्रस्तुत कर देनी थी लेकिन उसे तीन महीने का अवधि विस्तार दिया गया। आरबीआई के पूर्व गवर्नर विमल जालान की अध्यक्षता वाली समिति के बारे में कहा जा रहा है कि उसने अधिशेष पूंजी का सांकेतिक हस्तांतरण चरणबद्ध तरीके से करने का सुझाव दिया है। समिति अपनी अनुशंसाएं अगले कुछ दिन में वित्त सचिव सुभाष चंद्र गर्ग की असहमति की टिप्पणी के साथ प्रस्तुत करेगी। संभवत: यह असहमति हस्तांतरण की मात्रा और उसके लिए तय समय के कारण है।

चरणबद्ध तरीके से अधिशेष हस्तांतरण का स्वागत किया जाना चाहिए। हालांकि रिपोर्ट की विषयवस्तु सार्वजनिक नहीं है लेकिन केंद्रीय बैंक से होने वाला हस्तांतरण देश की राजकोषीय स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव ला पाएगा, ऐसा लगता नहीं। वर्ष 2016 की आर्थिक समीक्षा में यह सुझाव दिया गया था कि केंद्रीय बैंक की अधिशेष पूंजी का इस्तेमाल सरकारी बैंकों के पुनर्पूंजीकरण में किया जा सकता है। यह मुद्दा गत वर्ष सरकार और आरबीआई के बीच विवाद का विषय बन गया था। इसके बाद ही दिसंबर 2018 में जालान समिति का गठन किया गया। स्वाभाविक बात है कि सरकार उच्च हस्तांतरण चाहेगी क्योंकि इससे उसे राजकोषीय दबाव कम करने में मदद मिलेगी और अल्पावधि में व्यय का दबाव कम होगा। सरकार चालू वर्ष में केंद्रीय बैंक से 90,000 करोड़ रुपये के लाभांश की अपेक्षा कर रही है। समूचे ढांचे पर समिति की टिप्पणी को देखना दिलचस्प होगा। वहीं आरबीआई के पूर्व डिप्टी गवर्नर और समिति के उपाध्यक्ष राकेश मोहन ने केंद्रीय बैंक की बैलेंस शीट को लेकर कई अहम मुद्दे इस समाचार पत्र में प्रकाशित एक आलेख में उठाए थे। उक्त आलेख अक्टूबर 2018 में प्रकाशित हुआ था।

पहली बात, विशुद्ध रूप से देखा जाए तो पूंजी हस्तांतरण से कोई नया राजस्व नहीं तैयार होता। यह आरबीआई की बैलेंस शीट के आकार को कम करेगा। परिणामस्वरूप केंद्रीय बैंक के पास कम प्रतिभूतियां और कम ब्याज रह जाएगा। इसका असर भविष्य की आय पर पड़ेगा। मोहन ने आगे कहा, 'लंबी अवधि के राजकोषीय परिणाम वही होंगे जो तब होते जबकि सरकार ने उसी व्यय की पूर्ति के लिए नई प्रतिभूतियां जारी की होतीं।' दूसरी बात, इस तरह के हस्तांतरण से राजकोषीय प्रबंधन पर से भरोसा उठ सकता है। तीसरा, यह अहम है कि केंद्रीय बैंक के पास इतनी पूंजी है कि वह मौद्रिक नीति का क्रियान्वयन कर सके और विदेशी मुद्रा के लेनदेन का समायोजन कर सके। चूंकि केंद्रीय बैंक से होने वाला हस्तांतरण अधिक अल्पकालिक राहत दे सकता है। ऐसे में इसका समुचित इस्तेमाल अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता में सुधार के लिए करना चाहिए। पूंजी का चरणबद्ध हस्तांतरण सरकार को फंड के किफायती इस्तेमाल का अवसर देगा। अगर सरकार इस पूंजी का रोजमर्रा के व्यय या राजकोषीय व्यय के लिए इस्तेमाल करती है तो यह सही नहीं होगा क्योंकि यह भविष्य की आय को प्रभावित करेगा। व्यापक स्तर पर देखें केंद्रीय बैंक से उच्च हस्तांतरण की मांग और इससे निपटने के लिए समिति का गठन स्वयं राजकोषीय तनाव को जाहिर करते हैं।

बेहतर नतीजों के लिए सरकार को राजस्व बढ़ाना होगा और व्यय को तार्किक बनाना होगा। केंद्रीय बैंक या अन्य नियामकों के हस्तांतरण, आयात पर उच्च शुल्क या आयकरदाताओं के छोटे से समूह के लिए दर बढ़ाना फायदा कम और नुकसान ज्यादा करेगा।

अजय मोहंती

बदहाल हो चुके हैं देश के बड़े शहर

देश के बड़े शहर विशालकाय झुग्गियों में बदल रहे हैं। जब उनमें सुधार का प्रयास होता है तो, मूंगे की चट्टान आड़े आ जाती है, जैसा कि मुंबई में हुआ।

राष्ट्र की बात

शेखर गुप्ता

हमारे शहरों की हालत खस्ता है। वैश्विक एजेंसियों के ताजा आंकड़े बताते हैं कि विश्व के 20 में से 15 सर्वाधिक प्रदूषित शहर भारत में हैं। जितनी तेजी से शहरीकरण हो रहा है और हालात बिगड़ रहे हैं, वैसे में आने वाले दिनों में सर्वाधिक प्रदूषित 30 शहरों में से 20 भारत के होंगे या ऐसे ही अन्य आंकड़े सुनने को मिलते रहेंगे। शहरों में यातायात रेंग रहा है। मुंबई में अब इसकी गति आठ किलोमीटर प्रति घंटा है, बेंगलूरु में हालत और खराब है। गूगल मैप को मेरा सुझाव है कि वह इसका नाम बदलकर वाटरलू कर दे।

हैदराबाद की स्थिति थोड़ी बेहतर हो सकती है, कोलकाता में भी सुधार हो रहा है। हालांकि इसके लिए वहां का आर्थिक पराभव उत्तरदायी है। दिल्ली के हालात निकट भविष्य में तो मुंबई या बेंगलूरु जैसे नहीं होंगे लेकिन वह तेजी से उस दिशा में बढ़ रही है। खासतौर पर अगर आप दिल्ली से गुरुग्राम या नोएडा का सफर कर रहे हैं।

दिल्ली -मुंबई-कोलकाता-बेंगलूरु - हैदराबाद में 9 करोड़ से अधिक लोग रहते हैं। उदाहरण के रूप में लें तो यह आबादी हमें जैसिंडा आर्डेन और केन विलियमसन जैसे नायक देने वाले देश न्यूजीलैंड की आबादी का 20 गुना है। इतना ही नहीं यह आबादी लक्जमबर्ग की आबादी के 150 गुना के बराबर है। मैं यूरोप के इस छोटे से खूबसूरत देश का जिक्र क्यों कर रहा हूं, यह आगे बताऊंगा। मुंबई की आबादी का 50 फीसदी झुग्गियों में रहता है। यह आबादी फिल्मों के सेट और गरीबों से संवेदना रखने और उन पर लिखने वाले उदारवादियों के लिए ठीक है लेकिन यहां एक बार फिर न्यूजीलैंड के बारे में सोचिए। हमारी वाणिज्यिक राजधानी की आबादी न्यूजीलैंड के दोगुना है और जीवन की परिस्थितियां भी बेहद खराब हैं। कोलकाता की स्थिति भी ठीक नहीं और बेंगलूरु तेजी से उस दिशा में बढ़ रहा है। देश का कोई शहर बिना झुग्गियों के नहीं है। यहां तक कि सरकार द्वारा योजनापूर्वक बसाया गया चंडीगढ़ भी नहीं।

मुंबई में जिसे झुग्गी कहा जाता है, दिल्ली में वह अवैध कालोनी कही जाती है। यहां जीवन स्तर उतना खराब नहीं रहता जितना मुंबई में लेकिन बहुत बेहतर स्थिति भी नहीं होती। चाहे जो भी हो, जितनी न्यूजीलैंड की कुल आबादी है, उतने लोग तो दिल्ली में अवैध तरीके से रहते हैं। हमारे सरकारी अस्पताल, चिकित्सा सुविधा और शिक्षा व्यवस्था की हालत खराब है। इन सभी जगहों पर भीड़ है और इनका स्तर उप सहारा अफ्रीका वाला है लेकिन दिल्ली के सरकारी कॉलेजों में दाखिले के लिए हॉर्वर्ड के स्तर के अंक चाहिए।

अगर हमारे शहर इतने बुरे हैं तो लाखों लोग अपने अपेक्षाकृत बेहतर गांव छोड़कर इन शहरों में क्यों चले आते हैं? ऐसा इसलिए क्योंकि गांवों की हालत भी बेहतर नहीं है। हवा की गुणवत्ता को छोड़ दें तो शेष सभी मानकों पर गांव शहरों से भी बदतर हैं।

भले ही भारत दुनिया की सबसे बड़ी तीन या पांच अर्थव्यवस्थाओं में शामिल हो लेकिन शहरों को लेकर हमारी मानसिकता गांधीवादी आडंबर से प्रभावित है कि शहर बुरे होते हैं और गांव अच्छे। हमने आंबेडकर और गांधी का वह चर्चित संवाद सुना है जिसमें गांधी ने कहा था कि भारत गांवों में रहता है, जवाब में आंबेडकर ने सवाल किया: लेकिन क्या ऐसा हमेशा चलता रहना चाहिए? केंद्रीय मंत्रिमंडल में हमेशा ग्रामीण विकास मंत्रालय रहा है लेकिन आजादी के बाद पांच दशकों तक शहरी विकास मंत्रालय नहीं रहा। भारत गांवों का देश है की रूमानियत ने देश के शहरों, उसके गरीबों का नुकसान किया जबकि गांवों को भी कोई फायदा नहीं पहुंचा।

यहां तक कि एपीजे अब्दुल कलाम के राष्ट्रपति रहते पुरा (शहरी सुविधाओं को गांव पहुंचाना) जैसे विचार के जरिए इसे और मजबूती दी गई। हर किसी ने इस विषय पर उनके पावर प्वाइंट प्रेजेंटेशन को सराहा लेकिन अलग हटकर हर किसी ने इस पर आशंका प्रकट की। पहली बात तो यह कि देश के गांवों की आर्थिकी इतनी मजबूत नहीं कि वे शहरों के स्तर का बुनियादी ढांचा तैयार कर सकें। राजनीतिक दल भी ग्रामीणों से पानी, बिजली या अन्य सुविधाओं का शुल्क लेने में हिचकते हैं। सवाल यह भी है कि जब हमारे शहरों की हालत इतनी बुरी है तो वह दरअसल किन सुविधाओं की बात कर रहे थे?

इस मानसिकता ने बहुत नुकसान पहुंचाया है और इसके दूरगामी परिणाम हैं। हम शहरों को बुरा और गांवों को अच्छा मानते हैं। ऐसे में शहरों का कभी सुनियोजित विकास ही नहीं हुआ। शहर झुग्गियों, बिल्डरों की बनाई इमारतों और माफियाओं के भरोसे रहे। हमारे शहर बिना बुनियादी ढांचे के विकसित होते हैं। इस ढांचे की जरूरत तीन पीढ़ी बाद महसूस होती है जब पानी, बिजली, सड़क और मेट्रो की आवश्यकता उठ खड़ी होती है। आनन-फानन में जरूरी उपाय किए जाते हैं लेकिन फिर भी लाखों की तादाद में कारें और दोपहिया पार्किंग की जद्दोजहद में सड़कों पर जहां तहां खड़े किए जाते हैं। इसके शिकार केवल गरीब नहीं होते। मुंबई का फैंसी वर्ली-परेल विकास इसका उदाहरण है। बीते दो दशक में खासकर पुरानी कपड़ा मिल की जमीन पर ढेरों अपार्टमेंट और बिजनेस टावर बन गए हैं। ज्यादातर ने पानी, पार्किंग और सुरक्षा जैसा बुनियादी ढांचा खुद तैयार किया है। ये उन गरीब बस्तियों के बीच खड़ी इमारतें हैं जिनके पास सुविधाओं का अभाव है। गुरुग्राम की फैंसी इमारतों की बात करें तो इनके पास खुद के विशाल सेप्टिक टैंक और डीजल भंडार हैं। सेप्टिक टैंक इसलिए बने क्योंकि किसी ने देश के इस शानदार नए उत्तर-आधुनिक शहर के लिए सीवर लाइन बिछाने पर ध्यान नहीं दिया। दूसरा किसी को सरकारी क्षमताओं पर भरोसा नहीं था। आपको याद होगा कुछ वर्ष पहले मारुति फैक्टरी में श्रमिकों के असंतोष की खबर सामने आई थी। उस वक्त यूनियनों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आरोप लगाया था कि पुलिस ने बड़ी तादाद में कर्मचारियों की जान ली और उनके शव गटर और सीवर में फेंक दिए। तत्कालीन मुख्यमंत्री ने आत्मविश्वास भरा बयान दिया था कि यह झूठ है क्योंकि गुरुग्राम में कभी सीवर बनाया ही नहीं गया। इस सप्ताह यह स्तंभ लिखने की वजह बना बंबई उच्च न्यायालय का एक आदेश जिसके जरिये मुंबई की लंबे समय से लंबित तटीय सड़क परियोजना को रोक दिया गया है। 219 पन्नों के इस निर्णय को लिखा है मुख्य न्यायाधीश प्रदीप नंदरजोग और न्यायमूर्ति एन एम जामदार ने। लंबे अरसे के बाद इतना सरल सहज आदेश पढ़ने को मिला। न्यायाधीशों ने उचित ही कहा है कि पर्यावरण और विकास के बीच कोई विवाद नहीं है लेकिन संतुलन और न्याय प्रक्रिया का पालन आवश्यक है।

उन्होंने इस परियोजना को व्यवहार्यता अथवा पर्यावरण को नुकसान के आधार पर नहीं रोका बल्कि इसकी तकनीकी वजह है। उनका कहना है कि यह परियोजना एक सड़क के रूप में मंजूर की गई लेकिन इसमें समुद्र का 90 हेक्टेयर इलाका लिया जाना है। ऐसे में यह एक भवन निर्माण परियोजना कहलाएगी भले ही ली गई जमीन का इस्तेमाल पार्क, बस पार्किंग, साइकिल ट्रैक या जॉगिंग ट्रैक बनाने में किया जाए। सरकार चाहे तो दोबारा मंजूरी की मांग कर सकती है लेकिन उसे यह मंजूरी शहर विकास परियोजना के रूप में लेनी होगी। आप भले नाराज हों लेकिन सामाजिक कार्यकर्ता जीत गए हैं। फैसले को सावधानी से पढ़ें तो आपको रोना आएगा। मैं कानून को दोष न देते हुए केवल एक बिंदु का उल्लेख करूंगा जहां न्यायाधीशों ने कहा कि परियोजना को वन्यजीव मंजूरी की भी आवश्यकता है।

याची ने कहा था कि इससे तटवर्ती इलाकों में मूंगे की चट्टानें नष्ट होंगी। अदालत में पेश किए गए अध्ययन बता चुके हैं कि हाजी अली और वर्ली के निकट कुल चार वर्ग फीट इलाके में मूंगे की चट्टान मिली हैं। सच यही है कि परियोजना पूरी होगी भले ही इसमें वक्त लगे और लागत 1,000 करोड़ रुपये ज्यादा हो जाए। मुझे नहीं पता कि मूंगा बचेगा या नहीं लेकिन मैं आशा करता हूं कि वह बचे। क्योंकि झोपड़पट्टी में रहने वाले प्रतीक्षा कर सकते हैं, तब तक कार्यकर्ता जश्न मना लें।

यह 'कोरल कल्पनालोक' में रहने जैसा है। याद रहे दिल्ली मेट्रो और बसों में महिलाओं की नि:शुल्क यात्रा के पक्ष में दलील दी गई थी कि लक्जमबर्ग ऐसा कर चुका है। लक्जमबर्ग की आबादी 6 लाख है, यानी दिल्ली की आबादी का 3 फीसदी। उसकी प्रति व्यक्ति आय भारत की प्रति व्यक्ति आय का 55 गुना है। जब तक हमारे अपने लक्जमबर्ग रहेंगे और हम मानते रहेंगे कि चार फुट मूंगा दो करोड़ लोगों से बेहतर है, तब तक हमारे शहरों की हालत खस्ता रहेगी। इस बीच कहीं अधिक बदतर गांवों से लोगों का आना भी जारी रहेगा।

राजनीति संग आर्थिक जरूरत से उपजा था बैंक राष्ट्रीयकरण

सम सामयिक

टीसीए श्रीनिवास-राघवन

आजादी के बाद बैंकिंग समस्या हमेशा राजनीतिक रही है। बैंकिंग समस्या को एक आर्थिक या वाणिज्यिक समस्या के रूप में देखना गलत है। अगर भारत का आर्थिक इतिहास पढ़ें तो पता चलेगा कि 1950 के दशक में तकनीक और बेहतर तरीकों के बजाय ग्रामीण जमा और सिंचाई को अधिक अहम माना जाता था। सोच यह थी कि सिंचाई सुविधा मुहैया कराने का जिम्मा तो केंद्र एवं राज्य सरकारें ले सकती हैं लेकिन किसानों को ऋण दिलाने की समस्या दु:साध्य है। देश भर में आम सहमति थी कि वाणिज्यिक बैंक ऐसा नहीं ही करेंगे।

एक दशक तक सहकारी बैंक बनाए जाते रहे और सरकार उन्हें प्रोत्साहन देती रही। लेकिन जल्द ही उन बैंकों पर स्थानीय नेताओं एवं भूस्वामियों का नियंत्रण हो गया। नतीजतन 1950 का दशक खत्म होने तक साफ हो गया कि सहकारी बैंक नाकाम हो चुके हैं। विशेषज्ञता की कमी को भी इसके लिए जिम्मेदार ठहराया गया। वैसे सार्वजनिक बैंकों में विशेषज्ञता का अभाव आज भी बड़ी समस्या है।

साठ के दशक के मध्य तक भारतीय रिजर्व बैंक का भी इससे मोहभंग हो चुका था। कांग्रेस के वामपंथी नेताओं की तरह वह भी सोचने लगा था कि ग्रामीण सहकारी बैंकों का नया नेटवर्क खड़ा करने के बजाय वाणिज्यिक बैंकों को ही ग्रामीण इलाकों में जाने के लिए बाध्य करना बेहतर होगा। ऐसे हालात में बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण बनाम पूर्ण राष्ट्रीयकरण की पुरानी बहस फिर से सामने आ गई। 1965 और 1966 में देश में आए दो भयंकर सूखों के चलते यह गंभीर विमर्श का मुद्दा बन गया।

असली बात यही थी कि बैंकों पर नियंत्रण कौन रखेगा? मुनाफा कमाने के इरादे से बैंकिंग कारोबार में उतरे निजी लोग जो कुछ हद तक समाज के प्रति दायित्व बोध भी रखते हैं या सामाजिक न्याय के लिए प्रयासरत सरकार जो कुछ हद तक लाभ कमाने की मंशा भी रखती है?

उस समय किसी को भी साफ-साफ यह मालूम नहीं था कि इनमें से कोई भी विकल्प व्यवहार में कितना कारगर होगा। कर्ज की भारी मांग थी। करीब 15 फीसदी की बचत दर नाकाफी थी। शेयरधारकों के प्रति देनदारियां होने से बैंक भी इस पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। अपनी बड़ी भूमिका को लेकर सजग सरकार हताश होने लगी थी। हालांकि यही पता नहीं था कि करना क्या है?

यह जताना व्यर्थ है कि निजी बैंकों की कोई गलती नहीं थी। औद्योगीकरण में मदद और बैंकिंग सेवाओं के प्रसार दोनों ही मामलों में निजी बैंक उम्मीदों पर खरा नहीं उतर पाए थे। आरबीआई और सरकार को अहसास हो चुका था कि निजी बैंक शहरी इलाकों के अलावा अन्य जगहों पर बैंकिंग सेवाएं देने में रुचि नहीं ले रहे हैं। मसलन, 1961 में भारत की कुल 51,00 बैंक शाखाओं में करीब 99 फीसदी शाखाएं शहरी इलाकों में ही मौजूद थीं। आरबीआई के दबाव में 1964 के अंत तक करीब 700 अन्य शाखाएं भी खोली गईं लेकिन उनमें से शायद ही कोई शाखा ग्रामीण इलाके में थी। आरबीआई ने 1965 में बैंक शाखाओं को लाइसेंस देने की अपनी नीति में ढील देने के साथ ही यह शर्त रखी कि नई शाखाओं में बड़ा अनुपात ग्रामीण क्षेत्रों का होना चाहिए। नई नीति आने के बाद 450 नई शाखाएं खोली गईं लेकिन ग्रामीण इलाके अब भी बैंकिंग सुविधा से लगभग वंचित थे।

इससे व्यथित होकर एल के झा ने 1967 में बैंकरों की एक बैठक में कहा था कि वह शहरी इलाकों में बैंकों का प्रसार कम करने के पक्ष में हैं। बैंकरों ने उनसे पूछा कि क्या वह इसी तरह की पाबंदी विदेशी बैंकों पर भी लगाएंगे? झा ने इसके जवाब में कहा कि विदेशी बैंक अपना मुनाफा बचाने के लिए शहरों तक सिमटे रहने के लिए मजबूर हैं।

विदेशी बैंकों की वजह से एक खास समस्या पैदा हुई थी। उन्हें 1962 के बाद तीन मुख्य बंदरगाह शहरों तक सीमित कर दिया गया था। इसके अलावा वे खुद भी कहीं और जाना नहीं चाहते थे। लेकिन भारतीय बैंक शिकायत कर रहे थे कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है और विदेशी बैंकों पर या तो पाबंदी लगाई जाए या उन्हें भी शहरों एवं कस्बों से बाहर निकलने के लिए मजबूर किया जाए। वहीं विदेशी बैंकों का कहना था कि भेदभाव के शिकार वे हैं और उन्हें ही महानगरों के बाहर शाखाएं खोलने की मंजूरी नहीं दी जा रही है। उस बहस का समापन एल के झा ने यह कहते हुए किया था कि न केवल विदेशी बैंकों के आने से विदेशी मुद्रा विनिमय में मदद मिली बल्कि उन्हें केवल 43 शाखाएं खोलने की ही मंजूरी दी गई है।

साठ के दशक में देश में आपदाओं का सिलसिला खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहा था। ऐसी स्थिति में जनता, राजनीतिक एवं बौद्धिक जगत की राय राष्ट्रीयकरण के पक्ष में होने लगी। यह सोच बड़ी तेजी से मजबूत होने लगी। खास बात यह है कि इस सोच का जन्म वामपंथी विचारधारा के चलते नहीं हुआ था। उस समय यही माना गया था कि यह कदम देश में विचलन की भावना को खत्म करेगा।

लोग एक निर्णायक नेता का इंतजार कुछ उसी तरह कर रहे थे जैसा 2014 के आम चुनाव में नरेंद्र मोदी के लिए भाव था। लोग चाहते थे कि देश की बागडोर संभालने वाला नेता सही मायनों में अगुआई करे। प्रधानमंत्री के तौर पर इंदिरा गांधी के शुरुआती साढ़े तीन साल हिचकिचाहट भरे थे लेकिन जुलाई 1969 में 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर वह अचानक ही राजनीतिक क्षितिज पर छा गईं।

एक झटके में ही देश का ऑपरेटिंग सिस्टम बदल गया था। ऐसा केवल राजनीति में ही नहीं हुआ जहां अब पार्टी के बजाय व्यक्ति अहम हो गया बल्कि अर्थव्यवस्था भी निजी हाथों से निकलकर राज्य के पास आ गई।

(मेरी पुस्तक 'डॉयलॉग ऑफ द डीफ: आरबीआई ऐंड द गवर्नमेंट' के अंश)

कानाफूसी

चुनाव और परिश्रम

क्या जम्मू कश्मीर में उम्मीद से पहले विधानसभा चुनाव हो सकते हैं? ऐसी अटकलें लगनी शुरू हो गई हैं। दरअसल भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के सदस्यता अभियान के राष्ट्रीय प्रमुख और मध्य प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान प्रदेश में अचानक अत्यधिक सक्रिय होते दिख रहे हैं। यही कारण है कि आगामी 25 और 26 जुलाई को चौहान जम्मू और श्रीनगर में पार्टी की सदस्यता में हुई बढ़ोतरी का जायजा लेने स्वयं जा रहे हैं। इसके अलावा वह चुनाव की रणनीतियों को लेकर भी कुछ काम करेंगे। उनके साथ मुलाकात के लिए तमाम स्थानीय नेता भी इन स्थानों पर मौजूद रहेंगे। भाजपा नेतृत्व ने राज्य में 17 लाख सदस्य बनाने का लक्ष्य तय किया है। आगामी 11 अगस्त तक चलने वाले मौजूदा सदस्यता अभियान के समाप्त होने तक पार्टी करीब 6 लाख नए सदस्य बना चुकी होगी। माना जा रहा है कि प्रदेश में चुनाव की घोषणा केवल तभी की जाएगी जब पार्टी को इस बात का पूरा भरोसा हो जाएगा कि उसके पास पर्याप्त सदस्य हो गए हैं और चुनाव में नतीजे उसके अनुकूल आ सकते हैं।

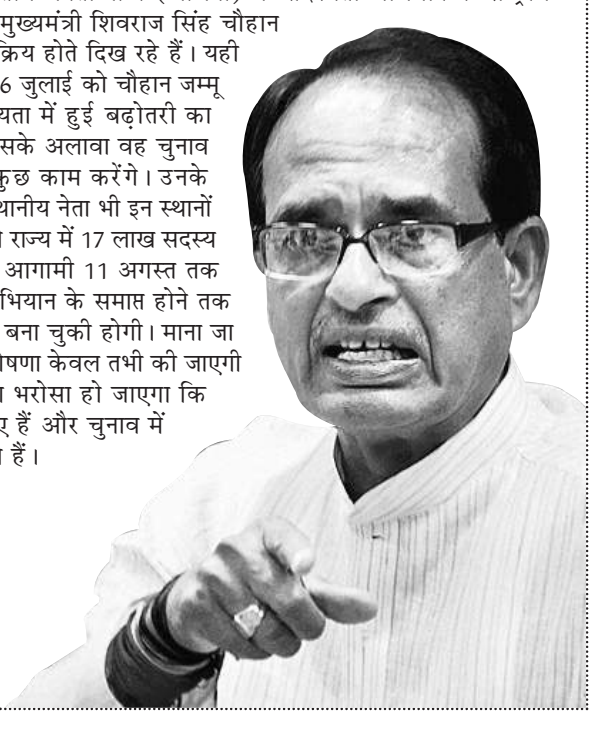

आपका पक्ष

स्मार्टफोन और आपकी गोपनीयता

इस समय सोशल मीडिया में फेस ऐप काफी लोकप्रिय हो रहा है। इस ऐप से यह दिखता है कि कोई तस्वीर भूत या भविष्य में कैसी होगी। लोग इस ऐप की मदद से बुढ़ापे की अपनी संभावित तस्वीर देख रहे हैं। गृह मंत्रालय सुरक्षा बलों को इस ऐप से दूर रहने का निर्देश जारी करने की योजना बना रहा है। यह कहा जा रहा है कि इस ऐप से गोपनीयता को खतरा है। मूल रूप से रूस का यह ऐप लोगों का डेटा ले सकता है। आज जितने भी मोबाइल ऐप हैं उन्हें स्मार्टफोन में इंस्टॉल करते समय टर्म ऐंड कंडीशन दी जाती है। उसके टर्म ऐंड कंडीशन को क्लिक करने या सहमति जताने के बाद ही कोई ऐप मोबाइल में इंस्टॉल होता है। इससे व्यक्ति के मोबाइल में मौजूद डेटा को वह ले सकता है। एक मोबाइल में कई तरह के डेटा मौजूद होते हैं जैसे मेसेज, फोटो, वीडियो, पासवर्ड, ई-मेल आदि। अगर कोई व्यक्ति इन डेटा को एक्सेस कर लेता है तो उसे उस मोबाइल धारक की सारी गोपनीय जानकारी मिल जाती है। आमतौर पर मोबाइल शुरू करते समय ई-मेल आईडी मांगा जाता है। लोग गूगल के जी-मेल का अधिक इस्तेमाल करते हैं और वही ई-मेल आईडी डालते हैं। गूगल में मोबाइल फोन की सारी जानकारी स्टोर होती है। अगर गूगल चाहे तो मोबाइल धारक की सारी जानकारी हासिल कर सकता है। अथवा किसी व्यक्ति को किसी मोबाइल धारक का ई-मेल आईडी और पासवर्ड पता चल जाता है तो वह सारी जानकारी हासिल कर सकता है। इस जानकारी में व्यक्ति किस समय कहां जाता है, कौन सा ऐप किस समय इस्तेमाल कर रहा है और क्या कर रहा है यह सारी जानकारी गूगल के इतिहास में स्टोर होती है। अत: स्मार्टफोन हमारी रोजमर्रा की जिंदगी को जितना आसान बना रहा है उतना ही खतरा उसे खो जाने, चोरी हो जाने या हैक किए जाने से है। लोगों को स्मार्टफोन का इस्तेमाल संभल कर करना चाहिए और उसकी गोपनीयता बरकरार रखनी चाहिए।

अंकिता सिंह, नई दिल्ली

स्मार्टफोन में इंस्टॉल करने वाले ऐप में टर्म ऐंड कंडीशन दी जाती है

पुराने कानूनों का खत्म होना जरूरी

देश में ऐसे कई कानून हैं जो आज अप्रासंगिक हो चुके हैं। केंद्र सरकार ऐसे कानूनों को खत्म करने की कवायद कर रही है। केंद्रीय कैबिनेट ने 58 अनावश्यक कानून को खत्म करने की मंजूरी दी है। केंद्र सरकार ने अनावश्यक हो चुके 1824 पुराने कानूनों को खत्म करने के लिए पहल की है। खत्म करने वाले कानूनों में संशोधन किए जाने के बाद यह अनावश्यक हो गए हैं। एक बार जब प्रमुख कानून संशोधित हो जाता है तो यह संशोधन कानून अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। कानूनी किताब में स्वतंत्र कानून के रूप में इनकी मौजूदगी अनावश्यक है और यह केवल व्यवस्था को बाधित करते हैं। खत्म किए जाने वाले कानून में कुछ पुरानी घोड़ा गाड़ियों के नियमन और नियंत्रण के लिए बनाए गए हैकनी कैरिज ऐक्ट 1879 और ब्रिटिश शासन के खिलाफ नाटकों के जरिये होने वाले विरोध प्रदर्शन को रोकने के लिए बनाए गए ड्रैमैटिक परफॉर्मेंस ऐक्ट 1876 शामिल हैं। ऐसे कई कानून हैं जिसकी आज कतई आवश्यकता नहीं है। ऐसे कानूनों को खत्म करना जरूरी है जिससे आम नागरिकों को बेवजह परेशान नहीं होना पड़े।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।